बांध बनाम लोग

गेब्रिएल डेट्रिच

नर्मदा घाटी में बांध के एक विकल्प के बतौर प्रस्तुत लघु पनबिजली परियोजना के उद्घाटन के साथ ही बांध विरोधी अभियान और सुदृढ़ हुआ है। भूमि के अधिकारों का संघर्ष भी साथ-साथ जारी है। जंगल में रहने वाले आदिवासियों को 'अतिक्रमणकर्ता' समझा जाता रहा है। जबकि उनके भूमि के वास्तविक स्वामित्व को स्वीकार किए जाने की ज़रूरत है।

1999 की शुरुआत में सरदार सरोवर बांध की ऊंचाई 88 मीटर करने के बाद नर्मदा घाटी में लगातार दूसरे वर्ष सूखा पड़ा है। लेकिन बावजूद इसके अपने पूर्वजों की ज़मीन को अपने कब्ज़े में रखने के लिए नर्मदा घाटी में आदिवासियों का संघर्ष जारी है। लेकिन बांध विरोधी अभियान को उसकी असली सफलता तो बिना शोरगुल के मिली जब लोगों ने अपने जीवन पर केवल अपना नियंत्रण बनाए रखने हेतु नए कदम उठाए।

छोटे बांध

सन् 2000 से स्वतंत्रता दिवस के मौके पर नर्मदा घाटी की पहली लघु पनबिजली परियोजना का उद्घाटन 92 वर्षीय प्रसिद्ध सर्वोदय नेता सिद्धराज ढड्ढा ने किया। डोमखेड़ी के ऊपरी भाग में स्थित यह एक अद्भुत परियोजना है। 300 वॉट की यह परियोजना एक छोटे से झरने पर बनाई गई है जिसका प्रवाह 1 से 3 लीटर प्रति सेकण्ड है। मॉनसून के महीनों में पानी को पाइप की सहायता से 28 मीटर की ऊंचाई से गिराया जाता है जिससे मोटर व टर्बाइन वाला एक जेनरेटर चलता है। सूखे के मौसम में जब झरने का प्रवाह घटकर पांच सेकण्ड में एक लीटर हो जाता है, तब 80 से.मी. ऊंचाई वाले चेक डैम द्वारा पानी को रोककर उसे 12,000 लीटर क्षमता वाले तालाब में एकत्र किया जाता है। पानी को रात में छोड़ा जाता है। इससे रात में तीन घण्टों (7 से 10 तक) के लिए बिजली की मांग को पूरा किया जाता है। झरने के पुनर्भरण के लिए लोगों ने छोटे बांधों का निर्माण किया है। इस पानी का उपयोग पीने तथा सिंचाई के लिए किया जाता है। केरल के पीपुल्स स्कूल ऑफ एनर्जी (पी.एस.ई.) के विशेषज्ञ अनिल कुमार व मधु ने परियोजना को टर्बाइन उपलब्ध कराया है। स्थानीय आदिवासी छोगालाल व चंपालाल ने उपकरणों को चलाने का प्रशिक्षण प्राप्त किया है। निमाड़ के मिस्त्रियों ने चेकडैम व तालाब बनाने में सहायता दी है।

हममें से अधिकांश लोगों ने वह प्रसिद्ध पोस्टर अवश्य देखा होगा जिसमें एक बूढ़ा व्यक्ति लालटेन के प्रकाश में पढ़ता हुआ दिखाया गया है व उसके पृष्ठभूमि में एक विशाल पावर जेनरेटर का धूमिल चित्र है। उस पोस्टर का शीर्षक है: *सिंगरौली - भारत में ऊर्जा की राजधानी में दो तिहाई जनसंख्या को बिजली की सुविधा प्राप्त नहीं है।* डोमखेड़ी ने इस स्थिति को उलट दिया है। आदिवासियों द्वारा अपने लाभ के लिए विकेन्द्रीकृत तरीके से ऊर्जा का खुद उत्पादन करना तथा उसी पनबिजली परियोजना से पीने का पानी भी प्राप्त करना (नतीजतन स्त्रियों का कार्यभार कम होना), एक प्रतीकात्मक महत्व का विषय भर नहीं है। इस प्रकार की परियोजनाएं अन्य गांवों में भी शुरू की जा सकती हैं। पी.एस.ई. ग्रुप के अनिल कुमार व मधु के अनुसार इस प्रकार विकेन्द्रीकृत रूप से 2000 मेगावॉट बिजली का उत्पादन किया जा सकता है जबकि यहां बिजली की कुल ज़रूरत केवल 2800 मेगावॉट है।

यह स्पष्ट है कि समुदाय द्वारा ऊर्जा का उत्पादन एक नई संकल्पना है जिसका इस्तेमाल ऊर्जा के पानी तथा सौर जैसे अन्य वैकल्पिक स्त्रोतों में भी किया जा सकता है। इस संकल्पना ने ऊर्जा उत्पादन के पुराने भ्रमों को तोड़ दिया है। इस प्रकार के ऊर्जा उत्पादन से ऊर्जा के वितरण में होने वाली नुकसान को भी रोका जा सकता

है। इस प्रकार की परियोजनाओं में प्रत्यक्ष दिखने वाली सम्भावनाओं से कहीं अधिक सम्भावनाएं हैं। चीन में इन पर व्यापक रूप से प्रयोग किया गया है।

ज़मीन का अधिकार

एक और क्षेत्र जहां काफी बदलाव आ रहे हैं वह है ज़मीन से सम्बंधित सवाल। अभी हाल ही में अलिराजपुर क्षेत्र के वन विभाग ने ग्रामीणों को 'अतिक्रमण' (नवाड़) सम्बंधी नोटिस भेजे हैं। इसके अलावा राजस्व विभाग ने भी डूब में आने वाले गांवों में 'खाताफोड़' अर्थात उत्तराधिकारियों के बीच ज़मीन के बंटवारे को अनुमति देने से मना कर दिया है। इसका कारण यह बताया गया है कि नर्मदा घाटी विकास प्राधिकरण ने भूमि का अधिग्रहण कर लिया है। मध्यप्रदेश शासन की पुनर्वसन नीति के अनुसार किसी भी प्रभावित परिवार के वयस्क बेटे (बेटियों का तो सवाल ही नहीं उठता) तब तक भूमि का मुआवज़ा पाने के हकदार नहीं होते जब तक कि उत्तराधिकारियों के बीच भूमि का बंटवारा न हुआ हो। वैसे जब तक वह व्यक्ति जीवित है जिसके नाम वह ज़मीन है, तब तक आम तौर पर ऐसे बंटवारे नहीं किए जाते हैं। तो वस्तुस्थिति यह है कि वयस्क पुत्रों के नाम जब ज़मीन का हस्तांतरण होता है तब तक वे स्वयं दादा बन जाते हैं और तब तक खाताफोड़ नहीं हो पाता। शासकीय अभिलेख के अनुसार वे ज़मीन के बदले ज़मीन पाने के हकदार नहीं होते। अत: लोगों की मांग रही है कि या तो वयस्क पुत्रों को भी ज़मीन पाने का हकदार बनाया जाए या फिर भूमि अधिग्रहण के समय भूमि का बंटवारा कम से कम उन पुत्रों के बीच किया जाए जिनकी आयु 18 वर्ष से अधिक हो गई है, ताकि वे पुनर्वसन पैकेज के हकदार हो सकें। स्थानीय तहसीलदार तथा नर्मदा घाटी विकास प्राधिकरण के अधिकारी इस मांग को उचित मानते हैं।

भूमि के अधिकारों के लिए लोगों के संघर्ष में एक और अध्याय दिनांक 28 अगस्त 2000 को जुड़ा। इस दिन शूलपाणेश्वर अभयारण्य, सरदार सरोवर परियोजना की नहरों, कॉलोनियों तथा पुनर्वसन से प्रभावित लगभग 3000 आदिवासियों ने गुजरात के राजपीपला में एक रैली निकाली व पुलिस के तीव्र दमन के बावजूद लोगों का ध्यान अपनी मांगों की ओर खींचा। इसमें विशेष ज़ोर शूलपाणेश्वर सम्बंधी मांगों पर था। शूलपाणेश्वर अभयारण्य ने 104 आदिवासी गांवों के 31,000 परिवारों को प्रभावित किया है। इन्हें परियोजना प्रभावित लोगों की श्रेणी में नहीं रखा गया है तथा माना जा रहा है कि अगले 10 सालों में वे अपनी मर्ज़ी से दूसरे स्थान पर बसने हेतु राज़ी हो जाएंगे। इसके अलावा भी कई लोग जो नहरों, कॉलोनियों, काटे गए जंगलों के एवज में किसी दूसरे क्षेत्र में वनीकरण, जलग्रहण क्षेत्र विकास, बांध के निचले क्षेत्रों के प्रभावस्वरूप, अप्रत्यक्ष विस्थापन आदि से प्रभावित हैं और इन्हें परियोजना ग्रस्त लोगों की श्रेणी में नहीं रखा गया है।

मध्यप्रदेश शासन की पुनर्वसन नीति के अनुसार किसी भी प्रभावित परिवार के वयस्क बेटे (बेटियों का तो सवाल ही नहीं उठता) तब तक भूमि का मुआवज़ा पाने के हकदार नहीं होते जब तक कि उत्तराधिकारियों के बीच भूमि का बंटवारा न हुआ हो। वैसे जब तक वह व्यक्ति जीवित है जिसके नाम वह ज़मीन है, तब तक आम तौर पर ऐसे बंटवारे नहीं किए जाते हैं। तो वस्तुस्थिति यह है कि वयस्क पुत्रों के नाम जब ज़मीन का हस्तांतरण होता है तब तक वे स्वयं दादा बन जाते हैं और तब तक खाताफोड़ नहीं हो पाता। शासकीय अभिलेख के अनुसार वे ज़मीन के बदले ज़मीन पाने के हकदार नहीं होते।

विडम्बना है कि सरदार सरोवर पुनर्वसन एजेंसी के पर्यावरण कक्ष द्वारा तैयार शूलपाणेश्वर अभयारण्य की 38 पृष्ठ की कार्यकारी योजना में सभी प्रमुख जीवों व पेड़-पौधों का सविस्तार वर्णन किया गया है। परन्तु क्षेत्र के आदिवासी लोगों का उल्लेख केवल 5 पृष्ठों में है और उन्हें मुख्यत: पर्यावरण के विनाशक के रूप में निरूपित किया गया है। इसके विपरीत इस क्षेत्र के विकास में पर्यटन की सम्भावनाओं को लाभकारी माना गया है।

सरदार सरोवर परियोजना को लेकर चल रहे संघर्ष में हर बार यह बात सामने आई है कि सरकारें ज़मीनी स्तर की वास्तविकताओं तथा परियोजना के कारण होने वाले विनाश का सही आकलन करने में पूरी तरह विफल रही हैं। जबलपुर के पास बरगी बांध के विस्थापितों के पुनर्वास का उदाहरण हमें और भी निराश कर देता है।

महाराष्ट्र में संघर्ष

इस संदर्भ में महाराष्ट्र के अनुभवों पर दृष्टि डालना महत्वपूर्ण होगा जहां भूमि के नियमितिकरण के क्षेत्र में काफी प्रगति हुई है। ठाणे व धुले ज़िलों के काश्तकारी संगठन के प्रदीप प्रभु ने महाराष्ट्र शासन के विरुद्ध एक मुकदमा दायर किया था जिसमें उसे सफलता मिली थी। न्यायालय ने अपने दिनांक 7 मार्च, 1995 के फैसले में राज्य शासन को आदेश दिया था कि वह भूमि सम्बंधी आदिवासियों के दावों की सुनवाई करे तथा उनके भूमि के हक को निर्धारित कर उन्हें उस भूमि से बेदखल न करे। याचिका में आदिवासियों को भूमि से बेदखल करने के राज्य के अधिकार के सम्बंध में अनेक प्रश्न उठाए गए हैं। यह भी तर्क दिया गया कि अतिक्रमणकर्ताओं को बेदखल करने की मियाद साधारणतः बढ़ाई जाती रही है तथा उनके कब्ज़े को नियमित भी किया जाता रहा है। याचिका में आदिवासियों ने एक शपथ पत्र भी प्रस्तुत किया था जिसमें उन्होंने भूमिक्षरण को रोकने व वनों के संरक्षण का बीड़ा उठाया था। यह वन भूमि व लोगों के परस्पर सम्बंधों को ज़्यादा जीवंत बनाएगा बजाय उन तरीकों के जो शूलपाणेश्वर पर विशेषज्ञों द्वारा सुझाए गए हैं।

बरसों से उनके द्वारा जोती जाने वाली वन भूमि को नियमित करने हेतु इसी तरह का संघर्ष नंदुरबार के अक्राणी व अक्कलकुआं तहसील के आदिवासियों द्वारा किया जा रहा है। चूंकि लोगों का वन भूमि पर कानूनन अधिकार नहीं बनता है इसलिए वे इस ज़मीन को अगली पीढ़ी को सौंपने की पात्रता नहीं रखते हैं। यही कारण है कि वे 'अतिक्रमणकारी' और भूमिहीन कहलाते हैं जिससे भूमि की क्षतिपूर्ति पाने के हकदार नहीं बनते। भूमि केवल 'पुराने अतिक्रमणकारियों' के नाम की जाती है जिन्होंने 1978 से पूर्व खेती शुरू कर दी थी। अब लोग प्रदीप प्रभु के मुकदमे में उच्चतम न्यायालय के निर्णय को क्रियान्वित करने के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से अब तक अक्राणी तहसील के 37 गांवों की ज़मीन को नियमित नहीं किया गया है। इनमें से 24 गांव सरदार सरोवर परियोजना से प्रभावित हैं। दिसम्बर 1991 की राजपत्र की अधिसूचना के बावजूद इन वनग्रामों को राजस्व विभाग द्वारा राजस्व ग्रामों में परिवर्तित नहीं किया गया है। वन विभाग के अधिकारियों से पूछताछ करने पर पता चला कि इस परिवर्तन की प्रक्रिया को जानबूझकर टाला जा रहा है ताकि क्षतिपूर्ति के बतौर ज़मीन के बदले ज़मीन देने को टाला जा सके तथा कटे वनों के बदले नए वन लगाने हेतु भूमि का अधिग्रहण किया जा सके। यह विडम्बना ही है कि एक तरफ तो 1999 में कई माह तक नर्मदा बचाओ आंदोलन पर न्यायालय की अवहेलना के आरोप लगाए गए किन्तु दूसरी ओर प्रदीप प्रभु मामले में उच्चतम न्यायालय के निर्णय को क्रियान्वित न करने को न्यायालय की अवहेलना नहीं माना गया।

त्रुटिपूर्ण आकलन

सरदार सरोवर परियोजना को लेकर चल रहे संघर्ष में हर बार यह बात सामने आई है कि सरकारें ज़मीनी स्तर की वास्तविकताओं तथा परियोजना के कारण होने वाले विनाश का सही आकलन करने में पूरी तरह विफल रही हैं। जबलपुर के पास बरगी बांध के विस्थापितों के पुनर्वास का उदाहरण हमें और भी निराश कर देता है। सरकारी पूर्वानुमानों के अनुसार वहां 101 गांवों के 7000 परिवारों को पुनर्वासित किया जाना था किन्तु वास्तव में 162 गांवों के 1,40,000 लोग बांध के कारण प्रभावित हुए। इस बांध से 4,50,000 हेक्टेयर भूमि में सिंचाई सुविधाएं उपलब्ध होना प्रस्तावित था। किन्तु वास्तव में इसकी केवल 5 प्रतिशत भूमि में ही (यानी 12000 हेक्टेयर भूमि में) सिंचाई सुविधाएं उपलब्ध हो सकी हैं।

ऐसे संकेत मिलते हैं कि सरदार सरोवर परियोजना के कारण डूब में आने वाले क्षेत्र सरकारी अनुमानित क्षेत्रों से कहीं अधिक होंगे। 1999 के सितम्बर माह में आई बाढ़ का पानी जिस घर में घुस गया था उसकी ऊंचाई शासकीय अभिलेख के अनुसार 101.5 मीटर है। जबकि सच्चाई तो यह है कि पानी केवल 98.8 मीटर की ऊंचाई तक चढ़ा था। और जिस घर में पानी आया था वह 98.4 मीटर की ऊंचाई पर स्थित है। यानी शासकीय अभिलेख में लगभग 3 मीटर की त्रुटि है। इसी प्रकार हापेश्वर मंदिर का निर्देशचिन्ह 105.9 मीटर दर्शाया गया है जबकि वास्तव में वह 103 मीटर पर है।

रवि कुचीमंची द्वारा स्वतंत्र रूप से किए गए सर्वेक्षण के अनुसार शासकीय निर्देशचिन्हों में लगभग 3 मीटर तक की त्रुटि है। इसके कारण विस्थापन की मात्रा में भारी अन्तर पड़ता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि सरदार सरोवर बांध की मौजूदा ऊंचाई (90 मीटर) पर भी पूर्ण पुनर्वास असम्भव है। दरअसल पुनर्वास की पहली शर्त जमीन है जो कहीं है ही नहीं। ऐसे में यदि बांध की ऊंचाई और बढ़ाई जाती है तो यह आदिवासियों के लिए सिवा विनाश के कुछ न होगा।

देश में विकास परियोजनाओं के कारण विस्थापित हुए लोगों में 60 प्रतिशत आदिवासी रहे हैं जबकि परियोजना से लाभान्वित राज्यों की जनसंख्या में आदिवासियों की संख्या केवल 7 से 10 प्रतिशत है।

न्याय कहां है?

अधिकांश आदिवासी गांवों में लोगों में यह भावना व्याप्त है कि उन्हें न्याय नहीं मिलता। लोग जानते हैं कि जिन परिवारों ने पुनर्वास का प्रयास किया उन्हें धोखा मिला; कुछ परिवार बर्बाद हो गए और कुछ परिवार वापस आ गए हैं। गुजरात सरकार ने न्यायालय में फिर से एक शपथ पत्र प्रस्तुत किया है जिसमें कहा गया है 90 प्रतिशत तक राहत व पुनर्वास का कार्य सम्पन्न हो चुका है। यह केवल इसी काल्पनिक स्थिति में सम्भव है जहां, जिन लोगों की ज़मीन का नियमन नहीं हुआ है उन्हें और जो नहरों, क्षतिपूर्ति वनीकरण अथवा शूलपाणेश्वर जैसे स्वैच्छिक विस्थापन से प्रभावित हैं, उन्हें परियोजना ग्रस्त नहीं माना जाय। यदि गुजरात सरकार आंख खोलकर वास्तविकता को समझने का प्रयास करे तो उसे यह अहसास होगा कि वह जो समस्याएं खड़ी कर रही है उसका समाधान उसके पास नहीं है।

ऐसे में राहत देने वाली बात यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर यह मानस बन रहा है कि लोगों का विस्थापन केवल उसी स्थिति में हो जब यह सुनिश्चित हो कि उनका पुनर्वास उनके जीवनस्तर को कमतर नहीं बनाएगा। यह बात वर्ल्ड कमीशन ऑन डैम्स (बांधों पर बने अन्तर्राष्ट्रीय आयोग) तथा जर्मन सरकार के आर्थिक सहयोग व विकास मंत्रालय द्वारा संचालित महेश्वर पनबिजली परियोजना की स्वतंत्र समीक्षा में स्पष्ट रूप से व्यक्त की गई है। इसके परिणामस्वरूप महेश्वर परियोजना में पूंजी निवेश करने वाली *सीमेन्स* कम्पनी को शासकीय गारण्टी रोक दी गई है। निहित राजनैतिक स्वार्थ व भ्रष्टाचार के इस युग में ऐसी समझदारी की आशा करना मुश्किल बात है। लेकिन इस सबके बावजूद लोग अपने इरादों में अटल हैं। दो लगातार सालों की अवर्षा ने तमाम फसलों को नष्ट कर दिया है। फिर भी, नर्मदा घाटी में ये नारे गूंज रहे हैं *डूबेंगे पर हटेंगे नहीं*। यह सुनिश्चित करना हमारा सार्वजनिक उत्तरदायित्व बनता है कि इस प्रकार का विनाशकारी और अविवेकपूर्ण विकास कार्य थमे ताकि लोग ससम्मान जी सकें। ***(स्रोत फीचर्स)***